॥ श्रीराधासर्वेश्वरो विजयते ॥
॥ श्रीभगवन्निम्बार्काचार्याय नमः॥
श्रीपरशुराम दोहावली

❊ श्रीसर्वेश्वरो विजयते ❊

।। श्रीभगवन्निम्बार्काचार्याय नमः ।।

निखिल महिमण्डलाचार्य-चक्रचूड़ामणि सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र-यति-
पतिदिनेश श्रीभगवन्निम्बार्कपाद पीठाधीश्वर अनन्त श्रीविभूषित
जगद्गुरु श्रीपरशुरामदेवाचार्यजी महाराज प्रणीत-
श्रीपरशुरामसागर से संकलित दोहों की परम रसमय मधुरतम-

श्रीपरशुराम दोहावली

सम्पादक-

निम्बार्कभूषण पं० गोविन्ददास सन्त

धर्मशास्त्री पुराणतीर्थ

प्रकाशक-

अ० भा० श्रीनिम्बार्काचार्यपीस्थ शिक्षा समिति

निम्बार्कतीर्थ (सलेमाबाद)

चतुर्थावृत्ति 2000 | **श्रीनिम्बार्क जयन्ती महोत्सव वि. सं. 2069** | **न्यौछावर पाँच रुपये**

वक्तव्य

अनन्त श्रीविभूषित जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर यतिपति दिनेश श्रीपरशुरामदेवाचार्यजी महाराज ने अपने गुरुदेव श्रीरसिकराजराजेश्वर श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी महाराज से आज्ञा प्राप्त कर वैष्णव भक्तजनों की मनोभिलाषा पूर्ण एवं मरुस्थल (मारवाड़) प्रदेश श्रीपुष्कर क्षेत्रान्तर्गत श्रीनिम्बार्कतीर्थ की सुरक्षा करने हेतु पधार कर यवन तान्त्रिकों को परास्त किया और हिन्दू धर्म की रक्षा कर पूर्ण रूपेण वैष्णव धर्म का प्रचार-प्रसार किया, आपके सम्बन्ध में श्रीनाभाजी महाराज ने भक्तमाल ग्रन्थ में लिखा है--

जंगली देश के लोग सब परशुराम किय पारषद ।
ज्यौं चन्दन को पवन निम्ब पुनि चन्दन करई ।।
बहुत काल तम निविड़ उदै दीपक ज्यौं हरई ।
श्रीभट पुनि हरिव्यास सन्त मारग अनुसरई ।।
कथा कीरतन नेम रमन हरिगुण उच्चरई ।
गोविन्द भक्ति गद रोग गति तिलक दाम सद वैद हद ।
जंगली देश के लोग सब श्रीपरशुराम किय पारषद ।।

(भक्तमाल १३७)

श्रीपरशुरामदेवाचार्यजी महाराज ने अपने उपदेश से जंगली देश के लोगों को भागवत-पार्षदों के समान बना दिया । जैसे दिव्य मलयागिर चन्दन का पवन निम्बवृक्ष को चन्दन कर देता है, और जैसे बहुत काल के सघन अन्धकार को दीपक हरण

कर लेता है उसी प्रकार जंगली लोगों का अज्ञान आपने हरण कर लिया । आपने अपने पूर्वाचार्य श्री श्रीभट्टदेवाचार्यजी महाराज और श्रीहरिव्यासदेवाचार्यजी महाराज के मार्ग का अनुसरण किया । सदा नियम से भगवत्कथा श्रवण और नाम संकीर्तन उच्चारण करते थे । जैसे रोगी को अनुपान युक्त रसायन औषध देकर सद्वैद्य निरोग कर देता है इसी प्रकार श्रीपरशुरामदेवाचार्यजी महाराज ने गोविन्द भक्ति रूप रसायन (वैष्णव पञ्च-संस्कारादि) देकर पाप रोग को नष्ट का दिया ।

संस्कृत भाषा के प्रकाण्ड विद्वान् होते हुए भी आपने समय की मांग के अनुसार राजस्थान भाषा मिश्रित सरस हिन्दी भाषा में एक विशाल ग्रन्थ की रचना की जो कि ***श्रीपरशुरामसागर*** के नाम से प्रसिद्ध हैं । जिसका कुछ अंश अधिकारी श्रीवियोगीविश्वेश्वरजी ने कई वर्षों पूर्व उदयपुर रहते हुए श्रीपरशु-रामसागर के नाम से ही उदय नामक मासिक पत्र के विशेषाङ्क रूप में प्रकाशित कराया था । पश्चात् इस ग्रन्थ को डा० श्रीराम-प्रसादजी शर्मा एम. ए., पी. एच. डी. पूर्व व्याख्याता हिन्दी विभाग राजकीय महाविद्यालय, किशनगढ ने चार भागों में बड़े ही सुन्दर ढंग से चित्ताकर्षक बना दिया ।

इस प्रकार आचार्यश्री ने इस विशाल ग्रन्थरत्न की रचना कर इस प्रान्त के भक्ति-भाव रहित हृदयजनों को भक्ति-रसामृत पान कराकर सरस बना दिया । महापुरुष तो दया के भण्डार होते हैं । वे किसी एक निमित्त (उद्देश्य) को लेकर जीवों का परम कल्याण करते हैं । ठीक उसी प्रकार आपने भी इस भक्ति-भाव

प्रधान ग्रन्थ की रचना कर मारवाड़ प्रान्तीय जीवों का ही नहीं अपितु समस्त जागतिक जीवों के लिए एक महान् उपकार किया हैं।

आचार्यश्री की प्रेरणानुसार इसी ग्रन्थरत्न में से सरल सरस परमोपयोगी एवं भाव गाम्भीर्य उपदेशपूर्ण रत्न चुन-चुन कर संकलन किये हैं। जो श्रीपरशुराम दोहावली के नाम से भक्तजनों के लाभार्थ प्रकाशित हैं। आशा है, भावुकजन इन उपदेशों से अपना आत्म--कल्याण करेंगे और अपना जीवन सफल बनावेंगे।

--स्व. पं० गोविन्ददास सन्त
पूर्व प्रचारमन्त्री-अ. भा. श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ
निम्बार्कतीर्थ (सलेमाबाद) अजमेर (राज.)

✻ श्रीसर्वेश्वरो विजयते ✻

।। श्रीभगवन्निम्बार्काचार्याय नमः ।।

निखिल महिमण्डलाचार्य-चक्रचूड़ामणि सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र यतिपति-दिनेश श्रीभगवन्निम्बार्काचार्यपीठाधीश्वर अनन्त श्रीविभूषित जगद्गुरु श्रीपरशुरामदेवाचार्यजी महाराज प्रणीत

श्रीपरशुरामसागर

से संकलित दोहों की परम रसमय मधुरतम-

श्रीपरशुराम दोहावली

श्रीगुरु संत समान हरि, जो उपजै विश्वास।
दरशन परसन परमसुख, "परसा" प्रेम निवास ॥१॥
कटुक वचन गुरु के भले, जिनतैं कारज होय।
अमृतवानी जगत की, "परसा" निष्फल सोय ॥२॥
गुरुद्रोही जो आतमा, सो मम द्रोही जान।
"परसा" जो गुरु भक्त है, सो मम भक्त पिछान ॥३॥
हरि भज जीवन "परशुराँ", सो जीवन परमान।
हरि सुमिरण बिन जीव को, जीवन मृतक समान ॥४॥
सुदिन मुहूरत शुभ करन, मंगल पद हरिनाँउ।
"परशुराम" हरि विघ्न हर, भज लीजे वलि जाँउ ॥५॥

दीक्षा लीजे देखकर, श्रीगुरु कीजे सोच ।
"परसा" संसय सब मिटैं, हरि निज लीजे लोच ॥६॥
सत्संगति विन जो भजन, लहै न सुख की सीर ।
"परसा" मिलै न सिन्धु सों, नदी विहूणाँ नीर ॥७॥
नीर विना निपजै नहीं, "परशुराम" भुवमण्ड ।
साधु न निपजै साधु विन, फिरि खोजो नवखण्ड ॥८॥
साधु समागम सत्य कर, करै कलङ्क विछोह ।
पारस परसत "परशुराँ", भयो कनक ज्यों लोह ॥९॥
जा सङ्गति गुन ऊपजें, औगुन जाँयँ विलाय ।
सो सत्सङ्गति "परशुराँ", कीजै प्रीत लगाय ॥१०॥
सङ्गति कीजे साधु की, मन दे प्रीत लगाय ।
प्रीति कियाँ ते "परशुराँ", मिलि हैं केशव राय ॥११॥
सत्सङ्गति ते हरि भजन, हरि ते हरि निज रूप ।
ता हरि को सुख "परशुराँ", अविचल अभय अनूप ॥१२
"परशुराम" सो दिन सुफल, जिहि कीजै सत्सङ्ग ।
सङ्ग न किजिय जाहि दिन, सो निर्फल रस भङ्ग ॥१३॥
सब जीवनि में हरि बसै, हरि ही में सब जीव ।
सर्व जीव को जीव हरि, "परशुराम" सो सीव ॥१४॥
हरि जल थल व्यापक सकल, सबकी करत सँभाल ।
सो हरि भजिये "परशुराँ" तजिये जग जंजाल ॥१५॥

सर्व सिद्धि की सिद्धि हरि, सब साधन को मूल ।
सर्व सिद्धि सिद्धार्थ हरि, सिद्धि बिना सब स्थूल ॥१६॥
करम हीन कलपत फिरे, सदा दुःखीजे प्राण ।
गिरि कंचन को "परशुराँ", छुवत होई पाषाण ॥१७॥
हाथ वात सब और के, कलप मरौ मत कोइ ।
"परशुराम" यह सत्य है, जो हरि करे सु होइ ॥१८॥
संपति जो उर हरि बसे, विपति जु वौसरि जाय ।
"परसा" संपति विपति दुःख, जगत जले जिंह लाय ॥१९
गर्भवास जठरा जरनि, जिनि हरि लीन्हों राखि ।
"परसा" हरि न विसारिये, सुमिरि सदा सुण साखि ॥२०
जिनि तन सिरज्यों "परशुराँ" ताकों सदा संभारि ।
नित पोषे रक्षा करे, हरि प्रीतम न विसारि ॥२१॥
"परशुराम" जो हरि भजे, सो न कदै पछिताय ।
बसे सदा हरि लोक में, औ जमलोक न जाय ॥२२॥
गर्भवास में जतन से, जिन राख्यो दश मास ।
सो हरि भजिये "परशुराँ", परिहरि दूजी आस ॥२३॥
"परशुराम" हरिनाम में, सब काहू की सीर ।
कहि जाणें सोई कहे, अन्त्यज विप्र अहीर ॥२४॥
"परसा" जो नर मनमुखी, चाले स्वान सुभाइ ।
सिंहासन बैठाइये, चाकी चाट न जाइ ॥२५॥

"परसा" पापी प्राण के, अन्तर बसे विकार।
अमृत बरस्यो ऊस में, पलटि भयो सब खार ॥२६॥
माया सगी न कुल सगो, सगो न यो संसार।
"परशुराम" या जीव को, सगो एक कर्तार ॥२७॥
"परसा" जीवन दूरि है, मरना निकट विचारि।
तातें कछु न कीजिए, भजिये देव मुरारि ॥२८॥
सब देखत ही जीव को, ले जासी जमराय।
विलम्ब न करिये "परशुराँ", हरि भज इहै उपाय ॥२९॥
कपट कियाँ रीझे नहीं, साँच सनेही सार।
"परसा" तन मन सौंपिये, तब ही मिले अपार ॥३०॥
जप तप-संजम "परशुराँ", अथवा विषय विकार।
जँहँ-जँहँ मनुवाँ अनुसरे, तँहँ-तँहँ तनु की लार ॥३१॥
चले न सूधो नीच मन, अपणी जाणें राखि।
तन वपुरे को "परशुराँ", मन की लार कुसाखि ॥३२॥
राम कृष्ण में "परशुराँ", कीजै नहीं विवेक।
काष्ठ या कि पाषाण मथि, पावक को गुन एक ॥३३॥
रामकृष्ण हरि नाम में, भेद अभेद न कोय।
पार करण को "परशुराँ", पोत भये प्रभु सोय ॥३४॥
सोलह करले सेर की, मण की एक पकाय।
"परसा" कारण भूख के, हरि सुमर्‍याँ दुख जाय ॥३५॥

बंध्यो प्रेम की डोर हरि, "परशुराम" प्रभु आप ।
साधु-साधु मुखि उच्चरै, करै भगत को जाप ॥३६॥
पराधीन हरि भगत के, बँध्यो प्रेम की दाम ।
अम्बरीष हित "परशुराँ", दुर्वासा सरनाम ॥३७॥
धर्म रह्याँ तो सब रह्यो, धर्म गयाँ सब जाय ।
धर्म हीण नर "परशुराँ", अन्त मरे पछताय ॥३८॥
मौन गही तो का भयो, काह धर्यौ जो ध्यान ।
"परशुराम" विश्वास बिन, कहा कथ्यो जो ज्ञान ॥३९॥
काहू के कोई भजन, काहू के को देव ।
"परसा" तू करि नेम धरि, सर्वेश्वर की सेव ॥४०॥
सुख नाँहि संसार में, उपजे दुःख अपार ।
"परसा" सो तजि हरि भजौ, दुख सुख हरण विकार ॥४१
मिटहिं न कबहूं भय बिना, मन के विषय विकार ।
हरि दीपक बिन "परशुराँ", मन्दिर सदा अँधार ॥४२॥
"परसा" पसु म्हारो कहे, मरतो राखे नाँहिं ।
जाको थो तिनही लियो, मूरख रोवे काँहिं ॥४३॥
पाणी प्यारो प्यास को, तिसो और को नाहिं ।
जहाँ प्रीति हो "परशुराँ", प्रकट श्याम ता माँहि ॥४४॥
भोजन भावै भूख को, पानी तृषा सनेहु ।
प्रीति भजै हरि "परशुराँ" प्रकट साखि सुनि लेहु ॥४५॥

"परसा" तन धरि का सर्‍यो, सक्यो न गोविन्द गाय ।
आये थे नर लाभ को, चाले मूल गँवाय ॥४६॥
जीव वह्याँ बह जायगा, जो तुम कृपा न कीन ।
"परशुराम" हरि दर्शन बिन, दुखी पुकारै दीन ॥४७॥
जेता मन तेता मता, भरमत सिद्धि न होय ।
"परसा" परम विवेक बिन, कारज सरै न कोय ॥४८॥
इत उत बायें दाहिने, तके सोइ पछिताय ।
सूधे मारग "परशुराँ", चले सु मार न खाय ॥४९॥
अर्द्ध नाम हरि को हरै, कलि के सकल विकार ।
"परसा" प्रभु तैं जीव के, अघ न कछु अधिकार ॥५०॥
पावक कनिका एक हो, काष्ठ सहस्त्र जु भार ।
"परसा" लागे एक दम, जारत करे न बार ॥५१॥
हरि सुमिरन आगे न कछु, कलि विष प्रबल अपार ।
पल में जोरैं "परशुराँ", पावक नाम उदार ॥५२॥
विरह न उपजै दरद बिन, दरद न होय निपीड़ ।
"परशुराम" रोवै न क्यों, प्रीतम बिना सुपीड़ ॥५३॥
विरह सलिल सरिता नयन, सिन्धु श्याम गम्भीर ।
"परशुराम" प्रभु दरस बिन, विरहिनी मनहिं अधीर ॥५४
हरि पूज्याँ पूजै सबै, जीव जन्तु कुल देव ।
"परशुराम" हरि सेवताँ, सुफल भई सब सेव ॥५५॥

हरि अमृत को डारि कर, पीवै विष संसार ।
"परसा" प्यास न भजन की, अन्तरि बसे विकार ॥५६॥
बगुलो बीणे मच्छिका, फिरि फिरि भव जल माँहि ।
मान सरोवर "परशुराँ", हंस मुकत फल खाँहि ॥५७॥
बानो पहिरे सिंह को, चले स्वान की चाल ।
शोभा लहै न "परशुराँ", जीव जगत में घाल ॥५८॥
भगत कहायो भेख धरि, मतै जगत शिर भार ।
हरि न भज्यो जिन "परशुराँ", तजि त भयो निर्भार ॥५९
"परसा" काँटो केतकी, कुसुम कीट को काल ।
वास लुब्ध सूली चढ्यो, तन मन सुधि न सँभाल ॥६०॥
हरख्यो विष्टक देखि करि, "परसा" प्राण पतङ्ग ।
उडि जु मिल्यो रसलेन को, होय गयो तन भङ्ग ॥६१॥
गज मोह्यो खाई पड़्यो, कालबूत के जाल ।
"परसा" साँकलि पग पर्‍यो, अंकुश चढ़्यो कपाल ॥६२
"परसा" स्वारथ जे बँधे, जिह्वा इन्द्री हेत ।
गज मृग मीन पतङ्ग अलि, खासी खता अचेत ॥६३॥
गज मृग मीन पतङ्ग अलि, एक एक मरि जाँहि ।
"परसा" ये पाँचों बसें, जहाँ कुशल कुछ नांही ॥६४॥
आवण-जावण "परशुराँ", विमुख जीव को होय ।
हरि रस पीवे प्रेम सों, जनमे मरै न सोय ॥६५॥

"परशुराम" जल केलि बिन, केरि कपूर न होय ।
भगति विमुख नर कर्म करि, सुख पावै ना कोय ॥६६॥
काला मुँह संसार का, जिसमें वाद विवाद ।
"परसा" कहूं न पाइये, हरि सुमिरन को स्वाद ॥६७॥
ज्यों वरिखा बिन "परशुराँ", ऋतु निर्फल फल नांहि ।
जनम अफल हरि भगति बिन, मानव रूप लजांहिं ॥६८॥
ज्यों वरिखा विन "परशुराँ", जीव दुखी सुख नाँहि ।
त्यों प्राणी हरि नाम बिन, आवैं फिर मरि जाँहि ॥६९॥
हरि दीपक बिन "परशुराँ", अन्धकार उर नैन ।
नर ऐसो हरि भक्ति बिन, चन्द बिना ज्यों रैन ॥७०॥
जननी बिन बालक दुःखी, सुख न लहे बिन पोष ।
"परशुराम" हरि भक्ति बिन, जीव सरासर दोष ॥७१॥
काँच महल कूकर वक्यो, भ्रमि कीनी तन हांणि ।
अहं बिगाड़्यो भगति फल, "परसा" बिना पिछांणि ॥७२
भगति न उपजै "परशुराँ", जव लगि मन अभिमान ।
हिर सेवा सुमिरन जहाँ, तहाँ न गर्व गुमान ॥७३॥
कियो करायो सब गयो, जब आयो अहंकार ।
"परसा" कोटिक कर्म है, एक अहं की लार ॥७४॥
हरि विश्वास न हरि कथा, जहां बसे अहंकार ।
ज्ञान प्रकाश न "परशुरा", तँहँ निशि घोर अँधार ॥७५॥

सुन्दर बाग अनूप फल, पुहूप परम सुखदाय ।
"परशुराम" परचा परवै, अजा आक करि खाय ॥७६॥
सावण ऋतु वरिखा भई, बायो बीज बॅबूल ।
करसण निवट्यां "परशुराँ", विलसन को फल सूल ॥७७
कनक कलश अमृत भर्‍यो, दियो अन्ध के हाथि ।
आखड़ि डार्‍यो ऊस पै, "परसा" गयो अकाथि ॥७८॥
सवै ग्रन्थ कौ अर्थ यह, हरि भजिये करि हेत ।
लिये नहीं संसार को, "परसा" सोइ सचेत ॥७९॥
पड़्यो काल के गाल में, भवसागर को जीव ।
"परशुराम" निकसे नहीं, बिन सुमिर्‍यां हरि पीव ॥८०॥
और सहाय न हरि बिना, जीव जन्तु को आन ।
"परशुराम" समझै नहीं, पशू अन्ध अज्ञान ॥८१॥
श्री गुरु की निन्दा करे, रहे विषय सों लीन ।
"परसा" नरक समांहि नर, सेवा सुमिरन हीन ॥८२॥
नन्दै निर्मल साधु को, विषयनि सों मिलि जांहि ।
"परसा" ताकी बुद्धि को, नाश भजन सुख नांहि ॥८३॥
पापी सुणै न हरि कथा, ऊँघे के उठि जाय ।
"परसा" औगुण उर धरै, सुणै न फिरि पछिताय ॥८४॥
नख शिख मीठी ईख अति, पै थोथो कण हीन ।
नाम हीन नर "परशुराँ", निर्मल तउँ मलीन ॥८५॥

पढ़ि गुणि-गुणि पण्डित भये, बांधे कोटि गिरत्थ ।
भक्ति न उपजी "परशुराँ", कही सुणी सब निरत्थ ॥८६॥
भगति न उपजै भाव विन, भाव न विन मन शुद्ध ।
होय न कबहूं "परशुराँ", बिन ब्याई के दुद्ध ॥८७॥
"परसा" निन्दा साधु की, करे जु रासभ होय ।
भार वहै घूरे चरे, आदर करे न कोय ॥८८॥
अशुभ कर्म अति प्रबल है, सुकिरत होय न देय ।
"परसा" जुर में शर्करा, मिष्ट तऊ कटु पेय ॥८९॥
जुर में लंघन जव करे, जुर को जोर घटाय ।
"परसा" प्रभु के भजन तें, अशुभ कर्म मिट जाय ॥९०॥
जप तप तीरथ व्रत करो, योग यज्ञ विश्राम ।
सर्व धर्म को "परशुराँ", तिलक एक हरिनाम ॥९१॥
नाभि बसे कस्तूरिका, मृग ढूंढे बनिवास ।
"परसा" प्रेरक निकट तजि, दूरि धर्स्यो वेसास ॥९२॥
मन ही चञ्चल मन चपल, मन राजा अरु रङ्क ।
"परसा" मन हरि सौ मिलै, तो हरि मिले निरसङ्क ॥९३॥
जन्म मरण ये "परशुराँ", हरि विमुखन के होय ।
हरि रस पीवे प्रेम सों, जनमें मरे न सोय ॥९४॥
ज्यों दीपक को देखि करि, शलभ तजे अन्धार ।
त्यों हरि सों रत "परशुराँ", सो त्यागे संसार ॥९५॥

"परसा" दरशन साधु को, कीजे जाण अजाण ।
सब तीरथ मज्जन हुते, अधिक पुण्य फल जाण ॥९६॥
एक घड़ी आधी घड़ी, आधी को अध भाग ।
साधु समागम "परशुराँ", करिये सो बड़ भाग ॥९७॥
साधु समागम "परशुराँ", करिये तजि अभिमान ।
हरि सेवा सुमिरन सकल, जप तप तीरथ दान ॥९८॥
दया धर्म तहँ हरि बसे, हरि तहँ सत सन्तोष ।
सत्य तहाँ तप "परशुराँ", शुचि को पावन पोष ॥९९॥
"परसा" कलियुग दोष निधि, तामें गुण हरि नाउँ ।
सुमिरैं कटै कलङ्क सब, ता हरि को वलि जाउँ ॥१००॥
सतयुग में तप आचरण, त्रेता जगि उपचार ।
द्वापर पूजा "परशुराँ", कलि कीर्तन में सार ॥१०१॥
हरि पद पावन "परशुराँ", को जन जानैं स्वाद ।
जग पावन गङ्गा करे, हरि पद को परसाद ॥१०२॥
दीनबन्धु दुःख हरन हरि, अशरन शरन सहाय ।
ऐसे प्रभु को "परशुराँ", भजै सु क्यों पछिताय ॥१०३॥
हरि भजि जाणे "परशुराँ", नर ऊँचो से ऊँच ।
जो न भजे हरिनाम को, नीच नीच धिग खूँच ॥१०४॥
मुख बांबी जिह्वा भुजङ्ग, वाणी जो विष झाल ।
"परशुराम" हरि भजन बिन, वकिबो केवल काल ॥१०५

"परसा" वाद विवादिनी, वाणी जो विष लीन ।
खण्ड खण्ड कर काटिये, रसना सो रसलीन ॥१०६॥
क्यारो करे कपूर को, कस्तूरी के पास ।
"परसा" सींचे गंगजल, लहसुन तजै न वास ॥१०७॥
जिनि जो मान्यो "परशुराँ", चाले तहीं सुभाय ।
माखी चन्दन ते विमुख, मल सङ्गति मिलि जाय ॥१०८॥
"परसा" बड़ दातार गुरु, जिनि दीनों हरिदान ।
ता हरि कै गुण गावतां, प्रकट भयो विज्ञान ॥१०९॥
गुरु थापै सौ थापिये, ऊँचा हो या नीच ।
जाके मस्तक "परशुराम", बैसे आय अमीच ॥११०॥
प्रेमरस अंतरि बस्यो, प्राण रह्यो बिरमाइ ।
लागी प्रीति अपार सों, "परसा" तजी न जाइ ॥१११॥
कहै कहा पशु अंध सों, माथे आंखि न कान ।
कह्यो न मानैं "परशुराँ", अभिमानी रु अज्ञान ॥११२॥
गुरु कौ पण "परशुराँ" तौ, सदा जीव को पोष ।
गुरु अंकुस सिर नाहीं तो, सुख न कहूं संतोष ॥११३॥
सदा सुख है "परशुराम", जो चाले गुरु भाय ।
गुरु कै भाय न चालई, सो निरफल बहि जाय ॥११४॥
बात उजागर "परशुराँ", जाणै सब संसार ।
श्री गुरु काढे काल तै, उतरि गये भव पार ॥११५॥

मन नृमल तब "परशुराम", जब हरि जल सूं धोइ ।
हरि सुमरन बिन आतमां, निरमल कदै न होइ ॥११६॥
"परसा" पानी न्हाय कर, पतित न पावन होइ ।
पावन करसी हरिभजन, साखि कहै सब कोय ॥११७॥
चरणामृत हरि कौ भलौ, लागै मीठो स्वाद ।
तामैं अमृत "परशुराम", श्रीगुरु को परसाद ॥११८॥
नातो गुरु गोविंद सौं, जो निरवाह्यो जाय ।
ताकौं तजै न "परशुराम", अंति मिलै हरि आय ॥११९॥
"परसा" संगति साध की, कीयां दोष दुरांहिं ।
पीजै अमृत प्रेम रस, रहिये हरि सुख मांहिं ॥१२०॥
दुख सुख जामण मरण की, कहो सुनो कोई बीस ।
जीव न जाणैं "परशुराँ", सब जाणैं जगदीस ॥१२१॥
ज्यौं घृत दीसै दुग्ध मैं, सुमिल आपके अंगि ।
त्यौं हरि प्रीतम "परशुराँ", प्रेरक सबकै संगि ॥१२२॥
सूकर स्वान बिडाल खर, उष्ट्र जूंणि व्यौहार ।
"परशुराम" पसु आचरन, मिथ्या नर औतार ॥१२३॥
"परसा" पतिव्रता सोइ, पिय तजि अनत न जाय ।
रहै सरणि छांडै नहीं, सेवै प्रीति लगाय ॥१२४॥
तर छाया पण "परशुराँ", सों पतिवरत कहाय ।
नख सिख संग लागी रहै, तरवर त्यागी न जाय ॥१२५॥

हरि कौं सेवै नेम धरि, क्यौं आन कौं पत्याय ।
पड़ै न कबहुं "परशुराम", सिंघ स्वान कै पांय ॥१२६॥
हरि की कृपा न मानहीं, ताहि कहूं सुख नांहि ।
कृपा पिछाणै "परशुराँ", रहै सदा सुख मांहिं ॥१२७॥
सबसों कृपा कृपाल की, सम वरतै ज्यौं भांण ।
कृपा पिछाणै "परशुराम", सेवक संत सुजांण ॥१२८॥
सेवा सुमिरन परम सुख, भाव भगति बेसास ।
हरि अमृत रस "परशुराम", पीवै कोई दास ॥१२९॥
कपट कियां रीझे न हरि, रीझे सांचै हेति ।
कपट न कीजै "परशुराँ", रहिये सांच समेति ॥१३०॥
"परसा" जोति अनंत की, सब घटि रही समाय ।
मूरख मरम न जाणई, भेदी जन पतियाय ॥१३१॥
हरि सनमुख सिरनाइये, जपिये हरि को जाप ।
हरि उर तैं न बिसारिये, "परसा" प्रेम मिलाप ॥१३२॥
जो सलिता सुख सिंधु सों, "परसा" प्रीति करांहि ।
फेर कदै न बीछड़ै, जाय मिली जे मांहिं ॥१३३॥
जाकै चिंता सो दुखी, सुखी जु रहै निचिंत।
अकल भरोसे "परशुराँ", कलपि न कदै मरंत ॥१३४॥
जग निर्फल "परशुराम", हरषि न कीजै हेति ।
हरि हरि कहै न कहन दे, ऐसो जगत अचेत ॥१३५॥

ढ़ाबै कौण कमान कौं, काठी कसी न जाय ।
"परसा" कायर सूर तैं, कठिन कसीस न खाय ।।१३६।।
ज्यौं जल तजै न जलचरी, भजै न दूजी ठौर ।
सौं निज सेवक "परशुराँ", प्रभु बिन भजै न और ।।१३७
हरि सुख जाकै "परशुराँ", सोइ तन आरोगि ।
हरि सुमरण जाकै नाहिं, वपु जीत्यौ जग रोगि ।।१३८।।
जहं संजम आहार कौ, तहं न उपजै रोग ।
मन कै संजम "परशुराँ", मिटै बिघन बल भोग ।।१३९।।
तन मन जौ तेरौ नाहिं, तौ तैरो कछु नाहिं ।
यहि विचार करि "परशुराँ", रहो सदा हरि माहिं ।।१४०
हरि रस पीवै प्रीति करि, सुनि संतन की साखि ।
"परसा" अपणैं जानि जन, सरणि लियै हरि राखि ।।१४१
काम क्रोध तृष्णा मिटि, भागे भरम विकार ।
"परसा" हठ संकट मिट्यौ, आयो सहज उदार ।।१४२।।
दीन गरीबी "परशुराँ", करि जाणैं जो कोय ।
बिना गरीबी बंदगी, कृष्ण कृपालु न होय ।।१४३।।
"परसा" दुख संकट सदा, या सूनै संसारि ।
हितू न कोइ "परशुराम", देख्या बहुत विचारि ।।१४४।।
"परसा" श्री गुरु को कह्यो, हिरदै राखि विचारि ।
अपणो अंतर और कों, दै गुरु लाज न मारि ।।१४५।।

रहै न छानौ दोष सुख, भाव कुभाव विकार ।
बाहरि प्रगटै "परशुराँ", भीतरि बसै विचार ॥१४६॥
सीतलता संतोष बुधि, परचौ बाद बिवाद ।
"परशुराम" सुणि पाइये, श्रवण सबद को स्वाद ॥१४७
कायर कस्यां न सुख लहै, दरि काचौ मन खोट ।
सूर धीर जन "परशुराँ", सहै घणां की चोट ॥१४८॥
प्रांणी जब कसणी सहै, मेटै मन की वांठि ।
"परशुराम" अपणेस करि, तब गुरु बांधै गांठि ॥१४९॥
"परसा" आस न भजन की, पलक पलक मै भंग ।
मन कंचन जब जाणिये, चढ़े न दूजा रंग ॥१५०॥
रंगि न राचै "परशुराँ", करि जाणै बहुरंग ।
बहु रंगी हरि रंग कौ, करै न कढ़ै प्रसंग ॥१५१॥
को जाणैं गति प्राण की, तन तैं होय उदास ।
"परसा" भीतरि भेद की, हरि जाणैं कै दास ॥१५२॥
विरह अगनि तन मन जलै, जल बिन जिवै न मीन ।
हरि प्रीतम बिन "परशुराँ", दुखी पुकारै दीन ॥१५३॥
तन मन त्यागै हरि भजै, नहिं जीवनि की आस ।
"परशुराम" तहं जाणिये, सही विरह को वास ॥१५४॥
"परसा" विरह न वीसरै, सुमिरै सदा सनेहु ।
अपणी जीवनि और कों, यौं न कहै तुम लेहु ॥१५५॥

पीड़ पराई को लखै, तुम बिन स्याम सहाय ।
तुम अंतर की जाणौ सबै, "परसा" प्रभु हरिराय ॥१५६
प्रेम कथा थोड़ा घरां, बहुतां भरम विकार ।
"परसा" प्रीतम प्रेम बिन, बूड़ै काली धार ॥१५७॥
"परसा" हरि की भगति बिन, करिये सोइ हराम ।
नर औतार सुफल तवै, भजै प्रेम सों स्याम ॥१५८॥
माया भगत न होइये, भगत सही जो भावु ।
भाव भगति वेसास बिण, "परसा" सो बहि जावु ॥१५९
नैणां कछू न सूझई, अंतरि सदा अंधार ।
"परसा" प्रेम प्रकास बिन, पोषै विषै विकार ॥१६०॥
अमृत डारै अंध मन, जाणि बूझि विष खाय ।
"परसा" न जीवै जिव सो, देखत ही मरि जाय ॥१६१॥
दिल मैं दया न आनहीं, देखत बुरो कमांहिं ।
नर न कहीजै "परशुराँ", कलि जम रूप कहांहिं ॥१६२॥
परनिदा करि हरखई, कैसो भयो विकार ।
"परसा" हरि तजि नरक कौं, चाल्यौ सब संसार ॥१६३॥
"परसा" पापी प्राण कै, अंतरि वसै विकार ।
अमृत बरख्यो ऊस मैं, पलटि भयो सब खार ॥१६४॥
एक कनक अरु कामिनि, दोंऊ भजन विनास ।
"परसा" ए तजि हरि भजै, सो सांचो निजदास ॥१६५॥

मन रंजन मन मोहनी, मोहे लखै न भेव ।
मोहनी तजि मोहन भजै, "परसा" सो सुकदेव ॥१६६॥
खेलनि लाल चलै गयो, लख्यौ न अंध अपार ।
कागद रीतौ रहि गयो, "परसा" बहि गई बार ॥१६७॥
"परसा" फिरि फिरि जगत मैं, औगुण किये अपार ।
गुण सागर गोपाल बिनु, को तारै भव पार ॥१६८॥
जो सुमरै सीखैं सुणैं, हौं ताकी बलि जाउं ।
पाप हरण मंगलकरण, है "परसा" हरि नाउं ॥१६९॥
कांटो पांव न भाजई, जो सूधे मारग जाय ।
ऊझड़ि चालै "परशुराँ", जीव सदा सिरि खाय ॥१७०॥
"परसा" माया कारणै, कीनै बहुत उपाय ।
माया मिली न हरि मिल्यौ, चालै जनम ठगाय ॥१७१॥
"परसा" माया सब डसै, माया डसी न जाय ।
मैं मेरी कहि बहि गये, कै राणा कै राय ॥१७२॥
"परसा" प्रभु सों मिलि रही, माया मोह लगाय ।
आप चरण सेवा करै, और छुवै तिहिं खाय ॥१७३॥
परनिंदा कीजै नांहिं, कीजै हरि कौ जाप ।
हरि सुमरण बिनु "परशुराँ", कीजै सोई पाप ॥१७४॥
"परसा" चन्दन गरल कौं, ज्यौं कपूर करि देय ।
कटुक वचन सुणि साध कै, बुद्धि विमल करि लेय ॥१७५

पावक उपज्यो काठ तैं, तहूं काठ कौ काल ।
देह दहन कौं "परशुराँ", क्रोध अगनि की झाल ॥१७६॥
हिरदै कतरणी जीभ रस, मुख उपरलौ नेह ।
ताको दरसण "परशुराँ", सुपनैं ही मति देह ॥१७७॥
"परसा" जुर कै जोर सौं, भोजन की रुचि जाय ।
असुभ करम उदै हुवां, हरि चरचा न सुहाय ॥१७८॥
"परसा" या संसार सों, करिये नाहिं सनेह ।
हाणि सदा हरि भजन की, मरि मरि धरिये देह ॥१७९॥
"परसा" तन मन धन गयो, भई जनम की हाणि ।
सर्वस खोयो मोह मिलि, मानि जगत की काणि ॥१८०॥
"परसा" धृग संसार सुख, झूठा भाई बंध ।
सौं लकुटी कूवै परै, बरज न मानै अंध ॥१८१॥
जो मन गिरयौ अकास तैं, सो किन थांम्यौ जाय ।
"परशुराम" ब्रह्मांड तैं, देखत गयो सिराय ॥१८२॥
मन मोती फूट्यां पछैं, संधै न सांध्यौ जाय ।
दीसै परगट "परशुराँ", ज्यौं पाथर की राय ॥१८३॥
हरि रस पीवै थिर रहै, लगै कलंक न कोय ।
"परशुराम" सब सुधरै, हरि भज मन थिर होय ॥१८४॥
"परसा" लहरि समुंद की, जैसी मनकी दौर ।
घर ही हीरा निपजै, जो मन राखै ठौर ॥१८५॥

"परसा" परधन जो हरै, दालद्री अवसेखि ।
प्रगट कहै सब संत मुखि, साखि सुदामा देखि ॥१८६॥
गुरु आज्ञा मानै नहीं, ता नर कौं जग कूप ।
गुरु की आज्ञा "परशुराँ", मानैं सो गुरुरूप ॥१८७॥
आप सुखी तब सब सुखी, दुखी न दीसै कोय ।
दुख ही मैं सुख "परशुराँ", जो हिरदै हरि होय ॥१८८॥
"परसा" तामस साध कौ, ज्यूं दूध कौ उफाण ।
जलि छांड्यौ सीतल भयो, वो गुरु सबदि सिराण ॥१८९
"परसा" मानै सत्य करि, गुरु पूज्यां गोविन्द ।
साखी है या बात कौ, वृंदावन को चन्द ॥१९०॥
तेरैं हमसे बहुत हैं, मेरे तुम हरि एक ।
"परसा" प्रभु या बात कै, साखी संत अनेक ॥१९१॥
"परसा" कडई तूंबडी, तीरथ कीए सोधि ।
तज्यो न कडवापन तऊ, मिलि पेठै परमोधि ॥१९२॥
अति सुन्दर पंखी सवै, मिले सरोवर जोय ।
"परसा" मोती हंस बिनु, चुगि जाणै नहिं कोय ॥१९३॥
पांचौ इन्द्री बसि करै, मन अपणूं लै हाथि ।
तब कबहूं जन "परशुराँ", व्यापक सूझै साथि ॥१९४॥
हरि राखै रहिये तहीं प्रान पराये हाथि ।
जहं खांचै तहं जाइये, "परसा" प्रेरक साथि ॥१९५॥

आडो आवै "परशुराँ", कीयो विलै न जाय ।
जो तरवर सेवै जिसौ, सौ तिस्यौ फल खाय ॥१९६॥
दूरि कहै सो दूर है, ताकौं नेरो नांहि ।
नेरौ ताकौं "परशुराँ", जो देखै दिल मांहिं ॥१९७॥
दया न व्यापै दीन की, दीनानाथ दयाल ।
फेरि परायो देउ किन, "परसा" पति गोपाल ॥१९८॥
श्रीगुरु कहैं सो मानिये, सत्य सबद बलि जाउँ ।
झूठ बकै जग "परशुराँ", सुमिरि सांच हरि नाउँ ॥१९९॥
तासों रहिये दीन होय, जिनि दीनों हरिनाम ।
गुरु अपणैं को "परशुराँ", करिये नित परिनाम ॥२००॥
भय भागा निरभै भया, जामण मरण न पास ।
लौ लागी हरिनाम सों, "परसा" सुख मैं दास ॥२०१॥
श्री गुरु तर की "परशुराँ", जब छाया तब पोष ।
हरि अमृत फल पाइये, तब ही सुख संतोष ॥२०२॥
संगति कीजै साध की, पलक भरी घड़ी एक ।
पहर दिहाड़ौ देह लगि, "परसा" जनम सुलेख ॥२०३॥
पानी सहै न प्यास कौं, भोजन भूख हराध ।
"परसा" दरसन साध कै, कियां कटै अपराध ॥२०४॥
भगति प्रकट सतसंग तैं, "परशुराम" जन होइ ।
बरिखा बादल तैं प्रकट, यह समझो सब कोइ ॥२०५॥

पारस परस्यो "परशुराँ", हरि ले गयो विकार ।
कंचन कीनूं लोह तैं, श्री गुरु को उपकार ॥२०६॥
दोस न दीजै और कों, कृत आपणौं पिछाणि ।
"परसा" प्रभु जो निरमयो, होसी सो निरवाणि ॥२०७॥
सबकौं पालै पोष दै, सबको सिरजनहार ।
"परसा" सो न विसारि हरि, जपिए बारंबार ॥२०८॥
सबै सगाई स्वार्थ की, हरि बिन कीजै और ।
"परसा" सांचो हरि सगो, सब काहू की ठौर ॥२०९॥
हरि सुमरन संतोष धन, जाके आयो नांहि ।
"परसा" निहचै मूढ मन, मरसी माया मांहि ॥२१०॥
केइ लोभी केइ लालची, कै कामी विष लीन ।
"परसा" नरकि समांहि नर, सेवा सुमिरन हीन ॥२११॥
सेवा सुमरन हीन पसु, ताहि काल छलि खाय ।
"परशुराम" जो हरि भजै, सो नर हरि पुरि जाय ॥२१२॥
"परसा" कहियां का सरै, हरि हिरदा की लेय ।
जो मनु दीजै आपनो, तों पाछै प्रभु देय ॥२१३॥
सर्वस हरि कौं सौंपिये, हरि न मिलै क्यौं आय ।
"परसा" तन मन प्राण दै, पीजै प्रेम अघाय ॥२१४॥
रामकृष्ण फल "परशुराँ", जाणै जाण प्रवीण ।
भिनिभाव हरिनाम मैं, करै मूढ मति हीण ॥२१५॥

सदा सायक "परशुराम", जन के दीन दयाल ।
ताको कछु नहिं बीगड़ै, रिछ्या करै गुपाल ॥२१६॥
आये गये बहु कौतिगी, कहत न पीड़ी बात ।
परम हितु बिन "परशुराम", को बूझै कुसलात ॥२१७॥
जो कछु करै सु हरि करै, हरि का कीया होय ।
"परशुराम" जग जीव का, कीया कछु नहिं होय ॥२१८॥
"परसा" झूठिं कलपना, कीया तैं का होय ।
यहि बिचारि हरि भजन कर, बाल न बांका होय ॥२१९॥
"परशुराम" हरि नीर कौं, पी जाणैं जो कोय ।
जो पीवै सो थिर रहै, आवागमण न होय ॥२२०॥
का कहिये समुझाइये, हिरदै न उपजै एक ।
पसु न समझै "परशुराम", हरि सुख पर्म विवेक ॥२२१॥
बीज भौमि कौं प्रगट ज्यौं, बरिखा बिना न होय ।
"परसा" मन की सबद सौं, निकसै अंतर खोय ॥२२२॥
काच कथीर अधीर नर, कस्यां न उपजै प्रेम ।
"परशुराम" कसणी सहै, कै हीरो कै हेम ॥२२३॥
उपजै काल कुबुद्धि तैं, उलटि जीव कौं खाय ।
"परसा" रिछया को करै, बिन हरि दीन सहाय ॥२२४॥
गा सकै तौ गाय लेऊ, "परशुराम" हरि रंग ।
घर तैं सारंग जायगौ, पाछें रहै कुरंग ॥२२५॥

जो रातौ हरि रंग सों, सो न करै बहुरंग ।
बहुरंगी कैं "परशुराँ", लागै नहिं हरि रंग ॥२२६॥
नाभि कमल तैं प्रगट हो, हिय कमल करै वास ।
"परसा" वाणी कंठ तैं, रसना करै प्रकास ॥२२७॥
सुणि कहिये करिये जिका, सांची होय न होय ।
देखी कहिये "परशुराँ", झूंठी कदै न होय ॥२२८॥
श्री गुरु दीनूं "परशुराँ", अंजन अपणूं जाप ।
गयो तिमिर अज्ञानता, सूझण लागो आप ॥२२९॥
"परसा" सेरी सांकड़ी, आतुर चल्यो न जाय ।
विरम कियां वणि नांवईं, दह दिसि लागी लाय ॥२३०॥
पाछें का पछिताइये, पहिली भयो अचेत ।
"परसा" निर्फल मरि गयो, लग्यो न हरि सौं हेत ॥२३१॥
आयो हो तो जाय क्यौं, पीड़ बिनां न पुकारि ।
लोग दिखावो "परशुराँ", करै सुमाथै मारि ॥२३२॥
"परसा" सीतल सिंधु कौं, मरम न लहै गंवार ।
अहि अमृत पीवै नाहिं, पीवै होय विकार ॥२३३॥
हरि अमृत रस प्रेम सौं, पीवै जो इकतार ।
"परसा" चढ़ै न ऊतरे, लागी रहै खुमार ॥२३४॥
काया खेत किसान मन, वीरज हरि का नावुं ।
साध सबद बरिखा भई, "परसा" सहज कमावुं ॥२३५॥

समझि गंवाई "परशुराँ", गहि राख्यो अभिमान ।
सुणै कौण मुख को कह्यो, कीटी रोक्यो कान ॥२३६॥
हीरौ राल्यौ हाथ तैं, कांकर लियो उठाय ।
"परसा" काग बसाय कैं, दीनों हंस उड़ाय ॥२३७॥
लाड पराया "परशुराँ", देखि मूढ पछिताय ।
सेवै सदा बंबूल कौं, आम कहां तैं खाय ॥२३८॥
जीव सदा ही "परशुराँ", रहै काल की घात ।
दादुर संगति सरप की, काहै की कुसलात ॥२३९॥
हेति नाहिं हरि नाम सों, पर निंदा सौं प्यार ।
"परसा" दास कहा करै, जाय बह्यौ संसार ॥२४०॥
अणकीयां तैं सत्य करि, कारिज सरै न कोय ।
"परसा" पर्‌यो रहै भलां, पूरौ कदै न होय ॥२४१॥
"परसा" हरि तजि आन कौ, भगत जांचन जाय ।
सिंघ सहस लंघन करै, निहच्चै घास न खाय ॥२४२॥
हरि की माया मोहनी, मोह्यो सब संसार ।
भगत न मोहि "परशुराँ", हरि सुमरै इकतार ॥२४३॥
गुरु गोविंद निवास है, गुरु देवन कौ देव ।
गुरु अपणै की "परशुराँ", मन दै करिये सेव ॥२४४॥
"परशुराम" का पंथ मैं, जीव दया विस्तार ।
पर की पीड़ा जाणई, जाणै पर उपकार ॥२४५॥

(१)

लोचन लोचत है ल्योलाए ।
हरिदर्शन कारन अति आतुर, उलटनि फिरत फिराए ॥
पल भरि पलक न पलटय चितवत,समझत नहिं समझाए ।
उझि २ चलत जुगल जग परिहरि, हरि सन्मुख सुख पाए ॥
उमगि मिलन कारन निसिवासर, रहत सजल जल छाए ।
"परशुराम" निर्भय रुचिं मानत, पीव कै प्रेम समाए ॥

(२)

गोविन्द ! मैं बन्दीजन तेरा ।
प्रात समय उठि मोहन ! गाऊँ तौ मन माने मेरा ॥
कृत्यम कर्म, भर्म, कुल करनी, ताकी नाहिन आसा ।
तेरा नाम लियाँ मन मानै, हरि सुमिरन विश्वासा ॥
करूँ पुकार द्वार शिर नाऊँ, गाऊँ ब्रह्म विधाता ।
"परशुराम"जन करत वीनती,सुनि प्रभु अविगति नाथा ॥

(३)

हरि सुमिरन बिन तन मन झूंठा ।
जैसे फिरत पशु-खर-शूकर, उपर भरत इंदर भ्रमि बूठा ॥

अकरम कर्म करत दुःख देखत, मध्यम जीव जगत का जूठा।
निर्धन भये श्याम धन हार्‍यो, माया मोह विषै मिलि मूठा ॥
हरि सुमिरन परमारथ-पति बिन,जमपुर जात न फिरत अपूठा
"परशुराम"तिनसों का कहिये, जो पारब्रह्म प्रीतम सों रूठा॥

जो जन साँचे ही गोविंद गावै ॥
अष्ट सिद्धि नव निद्धि सकल सुख, घर ही बैठो पावै ॥टेक॥
काम क्रोध अभिमान चातुरी, त्रिष्णा चित न डुलावै ॥
संसौ कहा पर्म पदई कौ, उधरत वार न लावै ॥१॥
माया मोह लोभ दुख पूरण, कलियुग घोर कहावै ॥
"परशुराम" प्रभु सौं मन मानैं, तो दुख काहे आवै ॥२॥

लागौ रंग महारास नेह ॥
यो न तजौं भजि निमष न विसरौं, उपज्यो अधिक सनेह ॥
विसर गई गति और ठौर की, हरि चितवन की टेव ॥
सावसि रही सरस जिय मेरैं, पीवत रस रही सेव ॥१॥
पायो मीत मनोहर प्यारो, विसर्‍यो सब तन मन गेह ॥
"परशुराम" तासौं बणि आई, अवगति अलख अभैव ॥२॥

जब लग हरि सुमिरन नहीं करिए ।
तब लग जीवन जनम अकारथ, भरमि २ दुख भरिए ॥टेक॥
अति अथाह दुस्तर भवसागर, सों कैसे करि तरिए ॥
हरि जिहाज पाये विण ता महि, बूडि भले बहि मरिए ॥१॥
अति संकट संसौ सुख नाहीं जो, मित्र मुरारि न करिए ॥
प्रीतम परम हितू पूरै बिण, "परसा" पारि न परिए ॥२॥

स्याम सघन वर्षा रुति आई ।
देखि घटा घनघोरि चहुं दिसि, पावस प्रीति सवाई ॥टेक॥
बोलत मोर बूंद विष लागत, हरि विन कछु न सुहाई ॥
कवण आधार जीवैं हम विरहनि, पति पतियां हूं न पठाई॥१॥
तुम अति चतुर सुजान सिरोमनि, हम अधम अजात कहाई ॥
"परशुराम" प्रभु तजि सब औगुन, मिलि मोहन सुखदाई ॥२

वृन्दावन विहरत श्री गोपाल ॥
संग सखा लिए हैं बहुत बाल ॥टेक॥
बहु विलास जहां खेलि हासि ॥
प्रमदा सब परी है प्रेम पासि ॥१॥
रस विलास आनन्द मूल ॥
निविड़ कुंज तहां फूले हैं फूल ॥२॥

*